P: ISSN NO.: 2394-0344 RNI No.UPBIL/2016/67980 VOL-3* ISSUE-11*(Part-1) February 2019
E: ISSN NO.: 2455-0817 *Remarking An Analisation*

भारत में सामंती विचारधारा का सातत्य

प्रताप विजय कुमार
एसोसिएट प्रोफेसर,
प्राचीन इतिहास विभाग,
ही0 रा0 स्ना0 महाविद्यालय,
खलीलाबाद, संत कबीर नगर

सारांश

सांमतीय संरचना सम्प्रभुता सम्पन्न भू–स्वामी तथा उसके पराधीन कृषक वर्ग की बुनियाद पर खड़ी होती है। उसके ऊपर राजा का स्थान होता है, जिसका सत्ता सुख भू–स्वामी वर्ग पर अवलम्बित होता है किन्तु न तो भू स्वामी वर्ग के सभी सदस्यों की आर्थिक स्थिति समान हाती है और न ही कृषक वर्ग के सम्पूर्ण समुदाय की। इन दोनो वर्गो के पारम्परिक सम्बन्ध उपसामन्तीकरण की प्रक्रिया से निर्धारित होते है। उपसामन्तीकरण से सतत श्रेणी–विन्यास का प्रादुर्भाव होता है, जिसमें राजा सर्वोपरि होता है। राजा के अधीन वे लोग होते है जो अपनी जीविका के लिए लगान पर निर्भर होते है। जिसका निश्चित भाग राज्य को दे देते है उनके नीचे दर–लगानदारों की श्रेणियॉ होती है, जिनके नीचे जमीन के जोतदार और दर–जोतदारों के स्थान होते है। सबसे नीचे जमीन के वास्तविक जोतदार का वर्ग होता है । अनेक भूमिदानों में उप–सामन्तीकरण के पॉच–पॉच श्रेणी दृष्टगत होती है, जैसे दक्षिण भारत मे राजा दानग्रहीता को भूमि देता है, दान ग्रहीता कब्जेदार को देता है, कब्जेदार दर–कब्जेदार को और दर–कब्जेदार भूमि को वास्तविक कृषि करने एवं कमाने वाले को दे देता है।[1]

मुख्य शब्द : भूमिदान, अभिलेखीय साक्ष्य, सामंती विचारधारा, सातत्य और परिवर्तन।

प्रस्तावना

भारतीय समाज में श्रेणी–विन्यास का प्रारम्भ वर्ण –व्यवस्था के उदय के साथ हुआ। प्राक् सामंती श्रेणी–विन्यास वैश्यों से दान और कर की उगाही तथा शूद्रो से बलात् श्रम सेवा प्राप्त करने के आधार पर निर्भर था। इस सामाजिक असमानता को कर्मकाण्डी धार्मिक व्यवस्थाओं द्वारा मान्यता दिया जाता है। सामंती काल के बाद वाले अर्थात आधुनिक श्रेणी–विन्यास के आधार की योग्यता, प्रतिस्पर्धा तथा सार्वजनिक परीक्षा–प्रणाली है। शिक्षा के सीमति अवसर या इस प्रकार के अवसर के पूर्ण अभाव के कारण बहुत से लोग नौकरशाही श्रेणी–विन्यास में प्रवेश कर जाते है, उनके लिये उन्नति की काफी सम्भावना होती है। सामंतीय श्रेणी–विन्यास का अपना अलग चरित्र था क्योंकि उसके आधार पर भूमि का असमान वितरण था और चूॅकि उसके साथ–साथ जाति प्रथा का भी संयोग था इसलिए उसके उन्नति की कोई गुंजाइश नही थी। यह श्रेणी विन्यास मानस पर इस प्रकार छाया हुआ था कि समानता या लोकतंत्र के लिये किसी प्रकार की सम्भावना नही रह गई थी। हॉ कभी–कभी धार्मिक सुधार आन्दोलनों में समतावादी विचारों का प्रचार किया जाता, किन्तु सामाजिक वास्तविकताएं धार्मिक समानता से अधिक प्रबल सिद्ध हुयी और नये सम्प्रदायों को भी शासक वर्ग के विचारों एवं संस्थाओं के अनुरूप ही ढ़लना पड़ा।[2]

भूमि अनुदान को प्रभु–प्रसाद माना जाता था। भूमि अनुदान के सतत और व्यापक चलने से यह भावना उद्भूत हुयी कि जो कुछ भी व्यक्ति को प्राप्त होता है वह कृपा और संरक्षण से ही प्राप्त होता है, कर्म का कोई महत्व नहीं है। मध्य तथा पश्चिमी भारत के 12वीं, 13वीं सदियों के अनेक दान–पत्रों में धर्मेत्तर लोगो को दिये गये दान को प्रसाद या कृपा कहा गया है।[3] किसी व्यक्ति के सामाजिक आर्थिक तथा राजनीतिक उत्थान के मूल में उस पर की गयी कृपा थी। सब कुछ प्रभु या स्वामी की कृपा पर निर्भर था। कर्म पर कुछ भी नहीं। महत्व केवल कृपा या प्रसाद का था, पुरूषार्थ का नही । इस भावना से परवशता की विचारधारा का विकास निश्चित था। इस विचाराधार के विकास के फलस्वरूप कोई भी व्यक्ति अपने लाभ–हानि का कोई तर्क संगत कारण नही ढूढता था।[4] पुरोहित पुनर्जन्म की कल्पना का ही प्रचार–प्रसार करते थे, जिसके अनुसार इस जन्म में मनुष्य जो कष्ट उठाता है वह उसके पूर्व जन्म के कर्मो का फल स्वीकार किया गया है। यद्यपि पुनर्जन्म की कल्पना बौद्ध जातक कथाओं में भी वर्णित है किन्तु सामंतीय व्यवस्था में इस कल्पना का प्रचार

अविश्रान्त रूप में किया जाता था। धर्म–कथाओं द्वारा इस कल्पना को किसानों के मानस में प्रतिष्ठित किया गया, और पुरोहित तथा महत्तर लोग पीढी–दर पीढी इसका प्रचार प्रसार करते रहे। भूमिदान–पत्र की व्यवस्थाओं को भंग करने के लिए पुरूषार्थ का सहारा लेने का दुस्साहस करने वाले किसानों या भूमि–स्वामियों के अगले जन्म में नर्क भोगने का भय दिखाया जाता था। इसीलिए दान–पत्रों के अन्त में बार–बार यह कहा गया है कि जो व्यक्ति उनका उल्लंघन करेगें वे साठ साल तक नर्क भोगेंग और दानदाता उतने ही वर्ष तक स्वर्ग का उपभोग करेगा।

इस प्रकार भाग्य में विश्वास का प्रचार करके पुरूषार्थ की भावना को कुंठित किया गया। भर्तृहरि के नीतिशतक में भाग्य या दैव सिद्धान्त पर एक अध्याय ही रंचित है।[5] जहॉ स्पष्ट कहा गया है कि कर्म भी नियति से निर्धारित होता है।[6] इसलिये समाज में जो कुछ भी घटित होता था, उसका अन्तिम कारण नियति को स्वीकार किया गया। स्वर्ग–नरक , नियति और पुनर्जन्म की कल्पनाओं के फलस्वरूप किसानों में अकर्मण्यता, असहायता तथा दीनता की भावनाएं आयी। दूसरी तरफ इन भावानाओं से भूमि–स्वामी वर्ग में जन्मना श्रेष्ठता के दावे को शक्ति और पोषण मिला।[7] मध्यकाल में प्रचलित एक श्लोक से यह जान पड़ता है कि शासक या संरक्षक पिता माना जाता था।[8] यहॉ यह कल्पना थी कि स्थानीय प्रभु या राजा पिता की भॉति समस्त प्रजा का ध्यान रखता है। इस प्रकार सोपानबद्धता की भावना सम्पूर्ण ग्रामीण समाज में व्याप्त हो गयी। जिससे सामान्य किसान तथा अन्य लोग ग्राम प्रधान या गॉव के सबसे धनाढय व्यक्ति को राजा मानते थे और स्वयं को उसकी प्रजा कहने लगे।[9]

निष्कर्ष

इस प्रकार भू–स्वामी श्रीमंतो में आत्म सम्मान का भाव अहंकार की सीमा तक होता गया, वे बराबर अपने ऊॅचे दर्जे के एहसास की गिरफ्त में होते गये। चूँकि भू–स्वामियों को चाहे उनका दर्जा कुछ भी हो समस्त कृपा का श्रोत माना जाता है, इसलिये उनमें अहं की भावना घर कर जाती है। उनके पुरोहित अपने यजमान के नामों के साथ प्रतिष्ठा और सत्ता के द्योतक विशेषण और विरूद जोड़ देते है। विक्रम प्रताप आदि शब्दों का प्रयोग बहुधा इसी सन्दर्भ में किया गया। आज भी नेपाल के राजा के नाम के साथ दर्जन भर से अधिक विरूद अवशेष के रूप में द्रष्टव्य है। इस प्रकार सामंती विचारधारा समाज में काफी लम्बे समय तक कायम रहा ।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. *तिस्मलै– लैण्ड ग्रान्टस एण्ड एग्रेरियन रिएक्शन इन चोल एण्ड पाण्ड्य टाईम्स –मद्रास वि0वि01987 पृ0–60*
2. *आर0एस0शर्मा– पूर्व मध्यकालीन भारत का सामंती समाज और संस्कृति – पू0 – 214–215*
3. *आर0एस0शर्मा– इण्डियन फ्यूडलिज्म पृ0– 101*
4. *वही*
5. *इसे दैव पद्धति कहा गया है–श्लोक –73–92*
6. *श्लोक – 93–102 में यह द्रष्टव्य है।*
7. *आर0एस0शर्मा– पूर्व मध्यकालीन भारत का सामंती समाज और संस्कृति–पू0 220*
8. *विद्यादाता जन्मदाता कन्यादाता तथैव च,*
   अन्नदाता भयत्राता पञ्चपितरः स्मृताः।
9. *आर0एस0शर्मा– पूर्वमध्यकालीन भारत का सामंती समाज और संस्कृति। पृ0–221*